* शारीरकविमर्श का सारांश *

स्वर्गीय विद्यावाचस्पति पं० श्रीमधुसूदनजी ओझा ने प्राचीन आचार्यों की तरह प्रस्थानत्रय पर भी व्याख्या और निबन्ध लिखे हैं। उनमे शारीरक दर्शन पर जो आपकी संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित व्याख्या है, वह शारीरक विज्ञान प्रथम भाग और द्वितीय भाग, दो भागों मे प्रकाशित हो चुकी है। प्रकृत ग्रन्थ मे स्वतन्त्र रूप से शारीरक दर्शन के विषयों पर आपने आलोचनात्मक प्रकाश डाला है, और उसका सार संकलन वैज्ञानिक ढंग से किया है। यह ग्रंथ बहुत महत्त्व का है। इसमें निम्न-लिखित विषयों का प्रतिपादन हुआ है—

१—प्रथम प्रकरण (पृ० १-१०) मे ब्रह्ममीमांसा (शारीरक दर्शन) की आवश्यकता दिखाते हुए मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के बहुत से ऐसे वचनों का संग्रह है, जिनमें जगत् के कारण दैव, रज, आप, प्रजापति, ब्रह्म आदि भिन्न भिन्न दिखाये गये है, और 'ब्रह्म का स्वरूप' तथा 'ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध' इत्यादि विषय भी परस्पर-विरुद्ध भिन्न भिन्न रूपों से दिखाये गये है। इससे 'ब्रह्म ही जगत् का कारण है,' यह निश्चय नहीं होता, और वेद के प्रामाण्य पर भी संदेह हो जाता है, इसलिये वेद-प्रामाण्य-समर्थन और ब्रह्म की अविरुद्ध एकरूपता निश्चित कराने के लिये ब्रह्म मीमांसा शास्त्र की आवश्यकता दृढ़ की गई है।

२—द्वितीय प्रकरण (पृ० ११-१७) में ब्रह्म शब्दार्थ का अनेकधा निरूपण कर ब्रह्ममीमांसा' मे आत्मारूप ब्रह्म और शास्त्ररूप ब्रह्म, दोनो की मीमांसा होती है, इस विषय को महत्त्व के साथ समझाया गया है, और आगे श्रुति, दर्शन और मीमांसा' इन तीनो का अश्रुतपूर्व पार्थक्य करते हुए ब्रह्ममीमांसा और गीताशास्त्र को दर्शनों से पृथक् कर वैज्ञानिक शास्त्र-श्रेणी मे रक्खा गया है। इस प्रकरण मे भिन्न भिन्न शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

३—तृतीय प्रकरण (पृ० १८-२६) इसमें 'वेद' क्या वस्तु है, इसका रहस्य बताया गया है। विज्ञानवेद और शब्दवेद नाम से वेद के दो विभाग हैं। विज्ञान वेद अनित्य है, और शब्दवेद ग्रंथरूप। परमाकाश, पुराणाकाश और भूताकाश नाम से आकाश के तीन विभाग दिखाये गये है। तीनो आकाशों मे तीन ही

वेद व्याप्त हैं—अनन्तवेद, दिव्यवेद और पौरुषेयवेद। अथर्ववेदत्रयी से पृथक् क्यों माना जाता है, इस विषय को स्पष्ट समझाया गया है। यह भी प्रदर्शित हुआ है कि दोनो ही वेदों में शाखा-भेद है। विज्ञानवेद के शाखा-भेद के आधार पर ही ग्रंथरूप वेद का शाखा-भेद है। मंत्र, ब्राह्मण भेद भी दोनो में है। ब्राह्मण का अन्तिम भाग वेदान्त है।

४—चतुर्थ प्रकरण (पृ० २७) में पाँच प्रकार के वेदाध्ययन से विप्र, ऋषि, देव आदि उपाधि प्राप्ति का वर्णन है।

५—पञ्चम प्रकरण (पृ० २८-४१) इसमें विज्ञान वेद के शाखा-भेद का अद्भुत रहस्य है। उसे चित्र और कोष्ठों द्वारा भी अनेकधा समझाया गया है। अग्नि और सोम दो जगत् के मूल तत्त्व हैं, इनमें सोम के तीन स्थान हैं—अप्, वायु और सोम। अग्नि के भी तीन स्थान हैं—अग्नि, वायु, आदित्य। इनमें प्रथम स्थान में विकास नहीं होता, और तृतीय स्थान में सोम और अग्नि संयुक्त रहते हैं। इनमें सोम ह्रासशील होने से उसमें १ ऋण और अग्नि विकासशील होने से उसमें १ धन का प्रयोग होता है। यों संख्या के चार स्थान एक, दश, शत, सहस्र में ऋण-धन का उपयोग होकर १०—१=९, १०+१०+१=२१, १००+१=१०१, और १००० (अन्त में विकासक्रिया न होने से ऋण-धन कुछ नहीं) ये क्रम से अथर्व, ऋक्, यजुः और साम की शाखा होती हैं। इसी प्रकरण में प्रसङ्गागत शिव और शिवहृदयारूढ़ शक्ति का उपासनातत्त्व भी बृहज्जाबालोपनिषत् के प्रमाण से (पृ० ३६०-३७०) समझाया गया है। शिव अग्नितत्त्व है और शक्ति सोमतत्त्व। अग्नितत्त्व ऊर्ध्वमुख है और सोमतत्त्व अधोमुख। सोमतत्त्व ऊपर से आता हुआ अग्नितत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित होता है—यही तत्त्व समझाने को शिव के वक्षःस्थल पर आद्या शक्ति आरूढ़ दिखाई जाती है—इत्यादि। यह संपूर्ण प्रकरण अति रहस्यमय है।

६—षष्ठ प्रकरण (पृ० ४२-४३) में शब्दमय वेद का प्रादुर्भाव वर्णन करते हुए विश्वगुरु पुष्करस्थ ब्रह्मा को वेदों का प्रादुर्भावक बताया गया है, और आगे की परम्परा अत्रिपर्यन्त कही गई है।

७—सप्तम विस्तृत प्रकरण (पृ० ४४-८३) में वेदप्रादुर्भाव के सम्बन्ध में ६ प्रधान मत और ४२ अवान्तर मतों का सप्रमाण वर्णन है। इनमें अनादि वेदवादी मीमांसकों से लेकर आधुनिक विद्वान् मैक्समूलर और शोपनहार तक के मतों का विवरण हुआ है। अँगरेजों के मत उनकी अँगरेजी भाषा में ही दिखाये गये हैं।

८—अष्टम प्रकरण (पृ० ८४-९२) में उपनिषत् पद का तात्पर्य। उपनिषदों का विस्तार आदि बताते हुए सब उपनिषदों के शान्तिपाठ के मन्त्र भी लिखे गये हैं। और, विशेषता यह है कि शारीरक दर्शन के अधिकरणों में जिन-जिन शब्दों पर विचार हुआ है, उनकी तालिका दी गई है। इससे संपूर्ण शारीरक दर्शन का विषय हस्तागत हो जाता है।

९—नवम प्रकरण (पृ० ९३-९८) में दर्शन शास्त्र के भेद दिखाये गये हैं। इनमें ६ दर्शन, १८ दर्शन, ३६ दर्शन आदि विचित्र विस्तार है। आगे ब्रह्ममीमांसा की आवश्यकता दिखाकर उसका विषय प्रदर्शन करते हुए श्रुति प्रत्यक्ष और स्मृति अनुमान है, इस विषय का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। द्रष्टा का वाक्य होने से श्रुति को दृष्टि अथवा प्रत्यक्ष कहा जाता है, अतएव वह स्वतःप्रमाण है, और श्रोता का वाक्य होने के कारण स्मृति को परतःप्रमाण और अनुमान कहा जाता है। यह प्रकरण मनन योग्य है। कई शङ्काओं का समाधान इसमें हो जाता है।

१०—दशम प्रकरण (पृ० ९९-११४) में संक्षेप और विस्तार से ब्रह्ममीमांसा शास्त्र (वेदान्तसूत्र) का विषय प्रदर्शन है। इसमें वेदान्तसूत्र का सिद्धान्त यह बताया गया है कि जीव और ईश्वर का यद्यपि व्यष्टि-समष्टि संबन्ध है—यह वेदान्त के ग्रन्थों में बार-बार कहा गया है, किन्तु यह विलक्षणता अवश्य समझने योग्य है कि संसार में व्यष्टियों से समष्टि बनती है, एक-एक धान्यकण मिलकर धान्यराशि बनती है, एक-एक वृक्ष मिलकर वन बनता है, एक-एक मनुष्य इकट्ठा होकर सेना बनती है, किन्तु यहाँ ऐसा नहीं, यहाँ समष्टि से व्यष्टि बनी है। समष्टि रूप ईश्वर कारण है, और व्यष्टिभूत जीव उससे पार्थक्य प्राप्त कर आविर्भूत होता है, इसी रहस्य पर दृष्टि जमाने को शारीरक मीमांसा में पहले दो अध्यायों में ईश्वर का विवेचन है, और आगे के दो अध्यायों में जीव का। आगे चार अध्यायों के विषयों की विस्पष्ट तालिका दी गई है। इनमें तृतीय और चतुर्थ अध्याय का विषयविवेचन बड़ा मार्मिक और रहस्यपूर्ण है। जीव ईश्वर से क्यों पृथक् हुआ? यह बताकर जीव की गति के भेद बड़ी मार्मिकता से समझाये गये हैं। और, पितृलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक आदि का स्थान निर्देशपूर्वक विस्पष्ट विवरण किया गया है। इससे सब शङ्का निवृत्त होकर पितृलोक आदि का तत्त्व समझ में आ जाता है। इस प्रकरण में पृथिवी से दक्षिण (अधो) भाग में चन्द्रमण्डल से शनिमण्डल तक तीन प्रकार के पितस्वर्ग, शनिमण्डल रूप यमलोक और

अवान्तर भेद (भृगु, अङ्गिरा आदि) का स्पष्टीकरण है। हमारे शरीर की तरह ईश्वर शरीर में मास, अस्थि आदि क्या है ? उनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर क्या वस्तु है ? उनके शरीर में अक्षर पुरुष की कलाओं का समावेश किस प्रकार है ? पञ्चमहाभूतों में क्रम से अक्षरों की कैसी कैसी प्रधानता है ? ईश्वर शरीर में पञ्चकोश कौन से हैं ? वेद क्या वस्तु है ? उसके भेद ऋग्, यजु, साम क्या है ? अथर्व क्या है ? अक्षर, क्षर और अमृत, मृत्यु क्या हैं ? ऋत और सत्य क्या वस्तु हैं ? आधिकारिक ईश्वर कौन है ? ब्रह्मा वेदमय मूर्ति क्यों कहा जाता है ? विष्णु को समुद्रशायी किस आधार पर कहते हैं ? पृथ्वी, सूर्य आदि के भिन्न भिन्न आठ-आठ उपसर्ग, तीन भृगु और तीन अङ्गिरा का स्वरूप ब्रह्मा के मानसपुत्र भृगु, अङ्गिरा प्रजापति की चार संस्था, इन्द्र और वरुण की प्रधानता का विवाद, सुदर्शन चक्र का निरूपण, आगे पुन ब्रह्मा, विष्णु, महादेव का विशद निरूपण, तेतीस देवताओं में महादेव की विचित्र प्रकार से व्याप्ति दक्षिणा मूर्ति शिव की उपासना का विचित्र रहस्य, अश्वत्थ का निरूपण, प्रत्यक्ष ईश्वर रूप अश्वत्थ को बताना इत्यादि शतश ज्ञातव्य विषय इस प्रकरण में आये हैं। इसका अधिक भाग श्लोकबद्ध है, किन्तु मध्य मध्य में नक्शे देकर विषयों को स्पष्ट समझाया गया है। इस एक प्रकरण के मनन से वेद का रहस्य करतलामलकवत् हो सकता है।

१६—षोडश प्रकरण—जीवात्माप्रतिपत्ति (पृ० १८७-१९५) में एक ही चित के चिद्घन, चिदंश, चिदाभास नाम से तीन भेद दिखाकर चिदाभास को जीव कहा गया है। चिदात्मा और कर्मात्मा का विस्पष्ट निरूपण है। जीव ईश्वर के भेदाभेद का स्पष्टतर विवेचन है। वेदान्त शास्त्र के सुप्रसिद्ध अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद का स्वरूप खूब समझाया गया है। साङ्ख्य और वेदान्त में क्यों भेद पड गया—इसका कारण बताते हुए वेदान्त के अद्वैतवाद का सुन्दर निरूपण है। यह छोटा सा प्रकरण बहुत काम का है। अन्त में कर्मात्मा के भेदों का निरूपण करते हुए मनुस्मृति के द्वादशाध्याय के श्लोकों का तात्पर्य बताया गया है, जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि टीकाकार कैसी भ्रान्ति में रहे। शरीर में पाँच देवताओं का कर्तृत्व बताया गया है, एव ज्ञान और कर्म दोनो की आवश्यकता स्पष्ट की है। अन्त में अति सक्षेप में गुणत्रयरहस्य कहते हुए शारीरक विमर्श की समाप्ति घोषित की है।

इस प्रकार यह 'शारीरकविमर्श' सब शास्त्रों का निचोड और वेद के रहस्य

का प्रशस्त मार्गप्रदर्शक है। ग्रन्थकार की प्रतिभा और विद्या का यह समुज्ज्वल आदर्श है। आशा है, विद्वान् इससे लाभ उठावेंगे। इसमें नया विषय होने के कारण स्थान-स्थान पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता बहुत है—वह भी ईश्वर की कृपा से कभी परिपूर्ण होगी।

जयपुर
ता० ७—१०—४३

म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
प्रिन्सिपल संस्कृत-कॉलेज, जयपुर

शारीरकविमर्शग्रन्थस्येयं विषयतालिका प्रदर्श्यते ।

अत्र त्रीणि प्रकरणानि भवन्ति

* इति शारीरकमीमांसाविमर्शस्य विषयतालिका सम्पूर्णा *



वेदविद्यासमुद्धारकस्वर्गीयपण्डितमधुसूदनशर्म्ममैथिलाः

अथ ब्रह्ममीमांसाप्रवृत्तिनिमित्तम् ।

१—मीमांसाशास्त्रारम्भावश्यकता ।

१—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यारभ्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रमारभ्यते । तत्र कोऽयं ब्रह्म पदार्थो यस्येयं मीमांसा क्रियते—इति जिज्ञासायामुच्यते । "जन्माद्यस्य यतः" इति । अयं भावः । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म" इति वचनादात्मा ब्रह्मेति गम्यते । "उक्थं ब्रह्म साम तदेतत्त्रयं तदेकमयमात्मा । आत्मा एकः सन्नेतत्त्रयम्" इति च श्रूयते । तथा चात्मन एवेयं ब्रह्मणो मीमांसा विधीयते इत्युक्तं भवति ।

२—अत्रेदमाशङ्क्यते । यद्यात्मनो मीमांसार्थमयं प्रयत्नः क्रियते तर्हि नारब्धव्यमिदं मीमांसाशास्त्रम् । शास्त्रान्तरैरेवात्मनिरूपणस्य कृतार्थत्वात् । तथा हि—प्रसिध्यन्ति खलु पञ्चात्मनिरूपणशास्त्राणि । वेदाः, उपनिषदः, दर्शनानि, मीमांसा, गीता चेति । तत्र वेदोपनिषदः श्रुतयः । दर्शनानि स्मृतयः । श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यायोपपन्नेऽस्मिन्नात्मपदार्थे नास्त्यवसरः संशयस्येति मीमांसा नापेक्ष्यते इति चेत् अत्रोच्यते—

३—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः" इति प्रतिज्ञासूत्रदर्शनादवश्यं तावदात्मन एवेयं मीमांसा अस्तीति परामृश्यते । किन्तु यथायमात्मा ब्रह्मपदार्थः तथेहात्मशास्त्रं वेदोऽपि ब्रह्मपदार्थोऽभ्युपगन्तव्यः । अवश्यं चैतस्यापीह ब्रह्मणो वेदस्य मीमांसा चिकीर्ष्यते ह्यात्मनः शास्त्रयोनित्वाच्छास्त्रार्थनिर्णयसहकारेणैवात्मनिर्णयस्येह विवक्षितत्वात् ।

४—नात्र ब्रह्ममीमांसानिबन्धे स्वातन्त्र्येणात्मब्रह्ममीमांसा चिकीर्षिता वेदवेदान्तोपनिषद्दर्शनशास्त्रैरात्मनिरूपणस्य कृतार्थत्वादस्यात्मनः पुनर्निरूपणायैतन्मीमांसाशास्त्रारम्भस्य वैयर्थ्यात् ।

५—ननु "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः" इति प्रतिज्ञासूत्रादात्मनिरूपणायैवेदं शास्त्रं प्रवर्तते इत्युक्तम् इति चेत् सत्यं तावदात्मनिरूपणायैवेदं मीमांसाशास्त्रं प्रवृत्तमस्तीति विज्ञायते । तथाप्येष आत्मा वेदशास्त्रे वेदान्तोपनिषच्छास्त्रे च सपरिकरं प्रागेव निरूपित इति नेह मीमांसायां स्वातन्त्र्येणात्मनिरूपणमत्यन्तायोपयुज्यते । पिष्टपेषणापत्तेः । कृतस्य करणं नास्तीति लोकसिद्धान्तात् ।

तस्मादात्मब्रह्ममीमांसायाः शास्त्रयोनित्वाद् वेदवेदान्तोपनिषच्छास्त्रद्वारेणात्मब्रह्म-मीमांसा प्रकृते कर्तुमिष्यते। तेषामेव च वेदवेदान्तोपनिषच्छास्त्रवचनानामिहात्म-निरूपणे प्रामाण्यमास्थीयते। यथा तु खलु तेषु वेदवेदान्तोपनिषच्छास्त्रेष्वेष आत्मा परोक्षार्थद्रष्टृभिर्महर्षिभिर्निरूपितः स तथैवेह तच्छास्त्रवचनप्रामाण्येनैव पुनर्दृढीक्रियते इति भाव्यम्॥ ननु तर्हि वैयर्थ्यं स्यादिति चेन्न। श्रुतिस्मृतिभ्योऽत्र मीमांसाया-मात्मसम्बन्धिकतिपयविशेषार्थनिरूपणस्य प्रक्रान्तत्वात्। अपि च—सन्तु तावदिमानि वेदवेदान्तदर्शनानि च शास्त्राण्यात्मनिरूपणानि किन्तु नात्यन्तं तत्रात्मनिरूपणं संतोषायोपयुज्यते—त्रयाणामप्येषामात्मशास्त्राणां बहुविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेन सन्देह-जनकत्वात्। तथा हि—

२—आत्मशास्त्राणां परस्परविरोधाभासाः।

यदिदं क्वचित् किंचित् परिपश्यामः—किं तत् कुतो जातं कुत्र प्रतिष्ठितं कोऽस्या-धिष्ठाता, एवं नानाविधा जिज्ञासन्ते सर्वे लोकाः—तत्समाधानार्थं प्रवर्तमानानां वेदब्राह्मणोपनिषद्दर्शनशास्त्राणां मिथो बहवो विरोधा दृश्यन्ते तथा हि—वेदेषु तावत्—कुतो जातमिति प्रश्ने—

१—"विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा ऽद्यामभार स ह्यः समानः॥" ऋक्। १०। ५। २६

एतावता दैवाधीन जगत् सर्वम्। स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिविनाशकारणं दैव-मेवेति केचित्॥ अथाऽपि—

२—'या ये रजांसि तविषीभिरव्यत प्र व एवास. स्वयतासो अध्रजन्।
भयंते विश्वा भुवनानि हर्म्या चित्रो वो यामः प्रयतास्वृष्टिषु। ऋक्। १।२३। १६६। ५
अचिकित्वां चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥" ऋ० १। २२। १६४। ६

इत्यादिवचनप्रामाण्यात् विश्वस्यास्यारम्भणं तत्त्वं रज एव। ऋषिपितृदेवा-सुरगन्धर्वमनुष्याणां भेदे निमित्तं रज एव। रजसां संयोगवियोग एव जगद्वैचित्र्ये हेतुः। उक्तमपि—

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतु॥"

३—अपि च—

आप एवेदमग्र आसुः।

या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ।
तास्वेवायं जायमानोऽग्निरूपः सूर्यस्तानिर्विश्वमेतद् व्यधत्त ॥
आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम् ।
सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरे ते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः (अथर्व)

इत्यादिश्रुतिबलाद्—अद्भ्य एव स्थावरजङ्गमात्मकमिदं विश्वमुत्पद्यते—केचिदित्थं प्रवदन्ति—

(४) परे पुनः—
"अथो वागेवेदं सर्वम् । वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता ।"
"अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवो पर एना पृथिव्यै एतावती महिना संबभूव ।"
इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात्—वाच एव विश्वं जज्ञे इत्थं सिद्धान्तयन्ति ।

(५) अन्ये तु—
"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
इति वचनात्—व्योम्न एव सर्वाणि भूतानि भूत्वा व्योम्न्येव सर्वेऽपियन्ति तस्माद्—व्योम एव विश्वस्यास्य प्रभवः प्रतिष्ठा परायणमिति निगदन्ति ।

(६) अपरे तु—
"असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे
अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः" ॥ १० । १ । ५ । ७
इति मन्त्रबलाद् सत् च असत् च, सदसत् चेति त्रीणि तत्त्वानि सृष्टेर्मूलभूतानीत्युद्घोषयन्ति ।

(७) अथवा—
"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ।"
एतावता—अमृतं मृत्युरिति द्वयमेतद् विश्वस्य मूलमिति केचित् कथयन्ति—

(८) इत्थं कतिचिन्मनीषिणः विश्वस्यास्योत्पत्तिविषये परस्परव्याहत-भावितानीमानि नानाश्रुतिवाक्यानि प्रसमीक्ष्य—
"न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।

नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपदुक्थशासश्चरन्ति ॥"

"आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति ।

आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।"

समस्तं संशयितम्—इति प्रवदन्ति ।

३—ब्रह्मसामान्यस्य विश्वजनकत्वाख्यानम्—

१—अथ परमेष्ठिब्रह्मणा—

"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।

मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" ॥

इति जिज्ञासामवताय्यं समाधत्ते—ब्रह्मत एवेदं विश्वमसृज्यतेति सिद्धान्तः ।

"ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।

मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥"

२—किं तद् ब्रह्मेति जिज्ञासायामाह—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।

यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति सिद्धान्तः ॥"

३—अथ विश्वकारणस्यैतस्य ब्रह्मणः किंतावद् विश्वरूपमेवास्य रूपमथवा विश्वविलक्षणं किञ्चिद् रूपमिति जिज्ञासायामाह—

"यदमृतं तद् ब्रह्म । अभयं वै ब्रह्म । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म ।" इति ।

तथा चैवं विश्वविलक्षणरूपोयमात्मा तद् ब्रह्मेति सिद्धान्तः ॥

४—अथैतद्ब्रह्मैकमनेकं वेति जिज्ञासायामाह—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तत् सर्वमभवत् ।" इति ।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।" इति ।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेणेति ।

तथा चेदं ब्रह्मैकमेवेति सिद्धान्तः ॥ ४ ॥

५—अथ विश्वं सृजदिदं ब्रह्म पितापुत्रवत् पृथगिदं विश्वं सृजति । आहोस्विद् दुग्धं दधिवदात्मन्येवेदं विश्वं सृजतीति जिज्ञासायामाह । आत्मन्नेवेदं प्रजापतिमधत्तेति नास्य पृथक्सृष्टिरस्तीति सिद्धान्तः ॥ ५ ॥

६—अथेद ब्रह्म कुतश्चिदन्यतः सृष्टं वा तदकृतकं वेति जिज्ञासायामाह— *

(७)—अथास्य ब्रह्मणस्तावदद्वितीयत्वे निर्विकारत्वे च स्थिते किं तत् साधनं

* अत्र पाठस्त्रुटितः ।

किं चोपादानं येनेदं विश्वमसृजतेति जिज्ञासायामाह—

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेऽनाथाः को वेद यत आबभूवेति" ॥ ऋक् ।३।५।२४

तस्मादचिन्त्यमनिर्वचनीयमिदं विश्वोत्पादनमिति सिद्धान्तः ॥ ७

(८)—अथ किं तद्दिनं कः समयो यत्रैतद् ब्रह्म सर्वतः प्रथमं विश्वं स्रष्टुं प्रारभत इति जिज्ञासायामाह—

"को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत्।

बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्य नॄन्" ॥ ऋक् । १० । १ । १० । ६

एषु च ब्रह्मणः कारणत्वं स्थितम् ॥

४—ब्रह्मसामान्यस्य विश्वाधारत्वाख्यानम्।

अथ कुत्रेदं विश्वं प्रतिष्ठितमित्यत्राप्याहुः—

१ ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा।

२ प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म।

३ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा सर्वानुभूः सर्वमत्राविवेश ॥

४ अन्तरस्मिन्निमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत्।

ब्रह्मैव भूतानां ज्येष्ठं तेन कोऽर्हति स्पर्धितुम् ॥

५ ब्रह्मन् देवास्त्रयस्त्रिंशद् ब्रह्मन्निन्द्रप्रजापती ॥

ब्रह्मन् ह विश्वा भूतानि नाविवान्तः समाहिता ॥

॥ वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ॥ इति ॥

एतेन ब्रह्मण्येवेदं विश्वं प्रतिष्ठितमित्युक्तं भवति ॥

५—ब्रह्मसामान्यस्य विश्वाधिष्ठातृत्वम्।

अथ कोऽस्याधिष्ठातेत्यत्राहुः—

ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ १ ॥ इति।

अनेन ब्रह्मणो विश्वाधिष्ठातृत्वं गम्यते ॥

अथ किमिदं विश्वमित्यत्राहुः—

१—ब्रह्म विश्वमिदं ब्रह्म।

२—सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

३—ब्रह्मैवेदं सर्वम् इति।

एतेन ब्रह्मणा विश्वस्याव्यतिरेकः कृतो भवति। इत्येतेषु वचनेषु अस्य ब्रह्मणः

कचिदाधारत्वं कचिदभिन्नत्वमाख्यायते । तेनैतस्य विश्वकारणत्वं नात्यन्तमुपपन्नं भवति इति । तस्मात् संदिग्धोऽयमर्थः ॥

६—प्रजापतेः सृष्टिमूलत्वाख्यानम् ।

अपि च ब्राह्मणेष्वेव तावदन्यतोऽन्यतः सृज्यमानं विश्वं निरुच्यते । तथा हि—कचिद् ब्रह्मणः, कचित् प्रजापतेः, कचित् पुरुषतः, कचित्पुनरन्नादिभ्योऽन्यान्यनानाभावेभ्यः सृष्टिराख्यायते । तस्मान्न निर्धारितं किञ्चिदेकं विश्वकारणं विज्ञायते । तत्र तावत् प्रजापतेः कारणत्वमाह—

"प्रजापतिरकामयत—एकोऽहं बहुः स्यां प्रजायेयेति प्रजापतिरसृजतेदं सर्वमसृजत—यदिदं किञ्चेति ॥ प्रजापतिः प्रजा असृजत उभयत एव प्रजा सृजते इतश्चामुतश्चेति ॥ प्रजापतिर्वै जनिता प्रजापतिर्विश्वकर्मा ॥ प्रजापतिः प्रजा असृजत । ता वैश्वदेवेनासृजत । स आत्मन्येव प्रजापतिमधत्त ॥ प्रजापतिर्वा एतान् लोकान् सृष्ट्वा पृथिव्यां प्रत्यतिष्ठत्" ॥ इति

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
सर्वं वै प्रजापतिः । सर्वं वा इदं प्रजापतिर्य इमे लोका यदिदं किञ्चेति ॥
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ॥"
"यस्मान्न परोऽन्योऽस्ति जातो य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" ॥ इति

सर्वं वा इदं प्रजापतिर्य इमे लोका यदिदं किञ्चेति । सर्वं वै प्रजापतिः ।

७—पुरुषस्य सृष्टिमूलत्वाख्यानम् ।

अथैवं पुरुषो विश्वकारणमित्यपरः सिद्धान्तः—श्रूयते हि—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् ॥
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ इति ॥

पुरुषस्त्वेष पशूनं ब्रह्म । अबध्नन् पुरुषं पशुमित्युक्तेः । पुरुषो वै यज्ञ इति श्रुतेश्च ।

८—अन्नस्य सृष्टिमूलत्वाख्यानम् ।

अथान्नादिष्वन्नस्य तावद् विश्वकारणत्व यथा—

"अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीं श्रिताः ।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति अथैनदपि यन्त्यन्ततः" ॥ इति । तै० ।

९—आनन्दो विज्ञानं मनः प्राणो वागिति पञ्चानां ब्रह्मणां सृष्टिमूलत्वाख्यानम्।

अपि च—भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपस्तप्त्वा प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। इति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। सतपस्तप्त्वा मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते मनसा जातानि जीवन्ति, मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। स तपस्तप्त्वा विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। स तपस्तप्त्वा आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। इति सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। तामेतां तपसा भृगुरध्यगच्छत्।

अध्यात्मं विज्ञानात्मनि मनःप्राणवाचां चिरप्रयोगे प्राणानां प्राणैःसह संघर्षणात् प्रादुर्भूतोऽग्निस्तपः तेन तपसा परिपक्वेन विज्ञानेन संगृहीतोऽर्थो ब्रह्म। स खलु ब्रह्मशब्दो विश्वस्यैतस्य प्रभवप्रतिष्ठापरायणतया संप्रतीतेऽर्थे रूढः। तथा च—

अन्नं प्राणो मनोविज्ञानमानन्दः—इत्येतेषां पञ्चानां ब्रह्मत्वं प्रतिपादयिष्या तित्तिरिश्रुत्या संदिग्धमेवैतस्य विश्वस्य कारणमनिर्धारितमाख्यायते। जन्यानामेषामन्नादीनां कार्य्यत्वेन विश्वरूपतया विश्वकारणत्वानुपपत्तेः पञ्चानामन्नादीनामविशेषेण कारणत्वाख्याने विनिगमनाविरहादेकस्यापि कारणत्वानुपपत्तेश्च। तस्मात् संदिग्धोऽयमर्थः।

अपि च नैतावता ब्रह्मेदं विश्वं वा, ब्रह्मैवैतद्विश्वोपादानं वा ब्रह्मैवैतद्विश्वाधिष्ठानं वा, ब्रह्मैवैतद्विश्वाधिष्ठातृ वा शक्यतेऽध्यवसातुम्॥

१०—ब्रह्मणो मूलकारणत्वाभावः।

अपि चेदं ब्रह्माप्यन्यतोऽन्यतः प्रजातमिति श्रूयते—

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः॥
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ इति॥
विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासत सहस्रसमं प्रसूतेन यन्तः।"
"ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्म नाम।
अतस्य ब्रह्म प्रथमोपजज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः॥" इति॥

तथा चेतस्य ब्रह्मणो जन्यत्वं विज्ञायते इति नैतस्मादिदं विश्वं जातमिति शक्यतेऽध्यवसातुम् ॥ १४ ॥

११—ब्रह्मणः कारणान्तरजन्यत्वम् ।

अपि च स्पष्टमेतेषु जन्येषु ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते । तथा हि—

'ब्रह्म वा अग्निः । इन्द्रो ब्रह्म । असौ वा आदित्यो ब्रह्म । ब्रह्म वै छन्दांसि । प्राणो वै ब्रह्म । चन्द्रमा ब्रह्म । कं ब्रह्म । खं ब्रह्म । रं ब्रह्म । शं ब्रह्मेत्यादि ।"

तस्माद् बहुविप्रतिपन्नवादिन्यः खल्विमाः श्रुतयो नैकान्ततो निर्णीतं कमप्यर्थं प्रतिपादयन्ति ॥

१२—श्रुतिवाक्यानां प्रत्यक्षविरुद्धार्थत्वम् ।

लोकविरुद्धं चैतच्छ्रुतीनामाम्नानं दृश्यते । तथा हि—

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्याम्नायते ।" विश्वं त्वेतद्बहुभिन्नं रूपं दृश्यते । तस्मान्नेदं विश्वं ब्रह्म संभाव्यते । "स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्" इति ब्रह्मणि निहितं विश्वमाख्यायते । तस्मान्नेदं विश्वं ब्रह्म ॥ १ ॥ अपि च—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥"

इति ब्रह्मणो निर्विकारत्वमाम्नायते । विकारि त्विदं विश्वं दृश्यते तस्मान्नेदं विश्वं ब्रह्म संभवति ।

इत्थं चेदमेकमेव ब्रह्म नानाभावैरुपदिशन्ति महर्षयो नैकमेवार्थं निर्धार्य्य ब्रुवते । अतश्चात्र पुनर्ब्रह्मणि संशयो भवति ॥ नानाभावैश्चोपदेशादर्थानां सामञ्जस्यं न पश्यामः सामञ्जस्येन तूपदिश्यमानमसंदिग्धार्थं व्याख्यानं शुश्रूषन्ते लोकाः । श्रूयते चैवम्—

"सं पूर्वन् विदुषा नय योऽञ्जसाऽनुशासति । य एवेदमिति ब्रुवत् ।" इति ।

इह पुनरेकस्य ब्रह्मणोऽन्यथा विरोधेन श्रूयमाणेऽर्थे सामञ्जस्यं नास्ति सन्देहश्चापद्यते—ब्रह्मभिन्नं विश्वमिति वा । ब्रह्मोत्पन्नं विश्वमिति वा । ब्रह्मण्याहितं विश्वमिति वा । ब्रह्मणाधिष्ठितं विश्वमिति वा । किञ्चिदन्यद् विश्वमिति वा । किं चैतस्य ब्रह्मणो विश्वविलक्षणं स्वं रूपमिति वा । नैतं कमप्येकमर्थं श्रुतिवाक्येभ्यो निर्धारयितुं शक्नुमः ॥

अथान्येऽपि ब्रह्मविषये दृश्यन्ते बहवो विरोधाः—तथा हि—अनाधारत्वसर्वाधारत्वविरोधो यथा—

१ आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः। स कस्मिन् प्रतिष्ठितः। स्वे महिम्नि—इत्यनाधारत्वम्। अन्तरादित्ये, अन्तरक्षणि—इत्येवं पुनः साधारत्वमिति विरोधः॥

एष सर्वेश्वरो भूताधिपतिर्भूतपालः। सेतुर्विधरण इत्यनन्तैश्वर्य्यत्वम्। ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषामीष्टे—इत्यन्तरादित्यस्य ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषामीष्टे—इत्यन्तरक्षणे मर्य्यादावदैश्वर्य्यत्वम्। इति विरोधः॥ २॥ तस्मादित्थमनिर्णये प्रसक्ते—अवश्यमियं ब्रह्ममीमांसा वेदब्राह्मणोपनिषत्प्रकरणानां विरोधाभासनिरासार्थमपेक्ष्यते।

इदं तु बोध्यम्। परस्परविरुद्धार्थकतया सन्दिग्धार्थत्वेपि परोवर्य्यविद्भिर्हीदं महामहर्षिभिरुक्तं वेदवेदान्तादिशास्त्रं न शक्यते मतप्रलपितमिवानर्थकत्वेनाऽध्यवसायोपेक्षितुम्। न वा तत्पदार्थापरिज्ञानात् सन्देहमात्रेणोपेक्षणीयं संभवति। योगजदृष्ट्या दृष्टस्यार्थस्य याथार्थ्येन ग्राहकत्वात्। तथा ह्याहुस्तेषां निर्विवादं प्रामाण्यम्।

"आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥ १॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यंत्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥ २॥ (भर्तृहरिः)
अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्॥
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः" ॥ (भागवते) इति।

तस्मादध्यात्मनिरूपणशास्त्रेषु वेदवेदान्तोपनिषद्दर्शनेषु विश्वकारणमिदमात्मतत्त्वं यथारूपेण निरूपितं तत्तथैवाग्राहयितुमियमत्र मीमांसा प्रवर्तते साक्षात्कृतधर्म्मभिर्महामहर्षिभिर्योगजदृष्ट्या दृष्टस्यार्थस्य तस्यान्यथात्वाभावात्। एवमपि यद्येते निरूप्यमाणाः शास्त्रार्थाः सम्यङ् न विज्ञायन्ते हृदयंगमा न भवन्ति तत्र तेषां मीमांसा कर्तव्येति श्रुतिरादिशति द्रष्टव्योऽर्थे श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य—इति॥ इदं हि श्रुतिवाक्यं श्रुतेर्थे मननानन्तरं निश्चयकरणस्य कर्तव्यतामुपदिशति। यथा च संदिग्धार्थकवाक्यस्यावश्यं मीमांसा कर्त्तव्येति श्रुतितात्पर्य्यं गम्यते। मीमांसया च तेषामार्षवचनानां याथार्थ्यमध्यवसाय तदुपदिष्टं विज्ञानं गृह्णीयान्न तु अज्ञानवशात्पदार्थोपरिग्रहे सति वैरस्यमागतस्तदुपदिष्टं गूढविज्ञानं परित्यजन् सर्वथा तस्माद् वञ्चितो भवेदिति युक्तं प्रतीमः। अत एव चैतान्यात्मविज्ञानानि श्रुतिस्मृत्युपदिष्टानि गूढार्थत्वाद् दुर्बोधान्यपि मीमांसाशास्त्रसाहाय्येन मीमांसयित्वा ग्राह्याण्येव न त्वज्ञानादुपेक्षणीयानि। तस्माद् द्विविधं कर्तव्यमिहापेक्षितं भवति। प्रमाणत्वेन प्रतिपन्नानामेषां वेदवेदान्तदर्शन-

शास्त्राणां प्रामाण्यरक्षार्थं शास्त्रमीमांसा कर्तव्या इत्येकम् । मीमांसासिद्धप्रामाण्यैः पुनरेभिः शास्त्रैर्निरूपितानामात्मनां भेदाभेदविषये सन्देहनिराकरणार्थं चात्ममीमांसा कर्तव्येति द्वितीयम् ॥ अतश्चैतेभ्यो वेदवेदान्तदर्शनशास्त्रेभ्योऽनन्तरमेषां च शास्त्राणामात्मनां च मीमांसनार्थं प्रकरणमपेक्षितं भवतीत्यवश्यमिदमारब्धव्यम् ब्रह्ममीमांसाशास्त्रमिति सिद्धम् ॥

अनेन च ब्रह्ममीमांसाशास्त्रेण ब्रह्मणो विश्वकारणत्वं निःसंदिग्धं व्यवस्थाप्यते सर्वाणि च संदिग्धस्थानानि वेदब्राह्मणोपनिषद्वाक्यानि ब्रह्मपरतया व्याख्यायन्ते । सर्वे च संशया निवर्तन्ते ॥

इति ब्रह्ममीमांसाशास्त्रारम्भावश्यकताहेतुभूतेन वेदब्राह्मणोपनिषद्वाक्यानां परस्परविरोधाभासप्रदर्शनेन ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य प्रवृत्तिनिमित्तमाख्यातम् ॥

२—अथ शास्त्रब्रह्ममीमांसा प्रारभ्यते

१—आत्मशास्त्रनिर्वचनोपक्रमः

१—आत्मब्रह्मशास्त्रब्रह्मभेदान्मीमांस्यब्रह्मणो द्वैविध्यम्

यद्यपि—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः" इति प्रतिज्ञासूत्रदर्शनाद्यस्यं तावदात्मन एवेयं मीमांसाऽस्तीति परामृश्यते । तथापि प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेद-संबन्धादात्मना सहात्मानुबन्धरूपस्य शास्त्रब्रह्मणोऽपीह मीमांसा चिकीर्षितास्ती-त्यनुसंधेयम् । तथा हि—अयमात्मा तावत् त्रेधा विज्ञायते—निर्धर्म्मकः, सर्वधर्म्मोपपन्नः, तदुचितसर्वधर्म्मोपपन्नश्च । "सर्वधर्म्मोपपत्तेश्चेति" सूत्रप्रामाण्यात् सर्वधर्म्मा कश्चिन्महामायाप्रमितो विश्वशरीरः पुरुष ईश्वर इत्येकः ॥ १ ॥ अथ सर्वधर्म्मोपपन्नस्यैतस्येश्वरस्यांशत उद्गतो योगमायावशान्मर्त्यशरीरमभिसम्पन्नः पाप्मभिर्योगात्कथंचित् प्रच्युतैश्वर्य्यः शरीरलक्षणविश्वाधिष्ठाता पुरुषो जीवसंज्ञां लभते सोऽन्यः ॥ २ ॥ अथेश्वरस्य जीवानां चान्तस्तलवर्त्ती गूढः कश्चिदेतद्विश्वमूल-भूतो निर्धर्म्मकः पुरुष आत्मा सोऽन्यः ॥ ३ ॥ तदित्थं केवलात्मा, ईश्वरात्मा, जीवात्मा चेति त्रिविधोऽयमात्मा ब्रह्मपदार्थः ।

त्रयो भावाः, त्रीणि तन्त्राणि, त्रीणि वीर्य्याणि, त्रीणि शास्त्राणीति चात्रानु-बन्धाः । शान्तभावः, वीरभावः, पशुभावः इत्येते तावदात्मनस्त्रयो भावाः । वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयश्चायमात्मा श्रूयते । तेनैतस्यात्मनो ज्ञानकर्म्मार्थभेदात् त्रीणि तन्त्राणि विज्ञायन्ते । तदेतत्तन्त्रत्रयोद्बोधकानि आत्मनस्त्रीणि वीर्य्याणि भवन्ति—ब्रह्मक्षत्रविडिति भेदात् । तत्र ज्ञानोदयोपयिकं वर्चोलक्षणं ब्रह्मवीर्य्यम् । कर्म्मोदयोपयिकमुत्साहलक्षणं क्षत्रवीर्य्यम् । वित्तसंचयोपयिकं संग्रहलक्षणं विड्वीर्य्यम् । वाजिश्रुतौ यद्यपि पञ्चवीर्य्याण्युक्तानि—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तदेकं सन्नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत—क्षत्रम् । सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म । तस्माद् यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उप-निश्रयति स्वां योनिम् । स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत । स नैव व्यभवत् ।

तच्छ्रेयोरूपमसृजत—धर्म्मम्। यो वै स धर्म्मः सत्यं वै तत्। एतद्ध्येवैतदभयं भवति। तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः" इति। १४। ३। २।

तथापि धर्म्म इत्येतदेषां चतुर्णां वीर्य्याणामेव गुह्यं नामेत्यन्तवाक्यान्निष्कृष्यते। अथ ब्रह्मक्षत्रविशां संस्कारेणाहितत्वाद् वैरनुगृहीतत्वमिति तेजोमयत्वाद् वीर्य्यत्वम्। तत्तदाहितदेवत्वस्वरूपरक्षार्थमेव येषां वृत्तयस्तत्तद्दे वताच्छन्दोऽभिश्छन्दिता भवन्ति। यथा—

गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्। त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्। न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयदिति।

अत एव ब्रह्मक्षत्रविशां भक्षणादिषु न याथाकाम्यम्। छन्दोभिश्छन्दितत्वात्। शूद्रस्तु—कामचारी कामभक्षः अच्छन्दस्त्वात्। तस्माद्दैवत इति देवतानिबन्धनं वीर्य्यं तत्र नोदेति। अतश्च दैवतप्रभावसिद्धानि त्रीण्येवैतानि मनुष्येषु वीर्य्याणीति भाष्यम्।

अथ श्रुतिशास्त्रं स्मृतिशास्त्रं विज्ञानशास्त्रं चेति, त्रीणि आत्मनिरूपणशास्त्राणि। तदित्थमात्मत्रैविध्यादात्मानुबन्धत्रैविध्याच्चेदं षोढा ब्रह्मोपपद्यते—

१—निर्धर्म्मकात्मा (विशुद्धाव्ययः)।

२—ईश्वरात्मा (ईश्वराव्ययः)।

३—जीवात्मा (जीवाव्ययः)। इत्येवं त्रय आत्मभेदा ब्रह्माणि।

४—आत्मविज्ञानं वेदः।

५—आत्मशास्त्रं वेदः।

६—आत्मवीर्य्यं चेति। इत्येवं त्रय आत्मानुबन्धा ब्रह्माणि। एष्वात्मन्येवैकस्मिन् निर्धर्म्मके भावे मुख्यं ब्रह्मत्वम्। इतरेषु स्वाश्रितधर्म्मागमाम्नानारूपेषु "यद्यागमात्मगुणीभूतानद्महणेन गृह्णन्ते" इति न्यायादौपचारिकं ब्रह्मत्वम्॥

तथा चैतस्मिन् ब्रह्ममीमांसाशास्त्रे द्विविधं ब्रह्म व्याचिख्यासितं निष्कृष्यते आत्मा चानुबन्धरूपं शास्त्रं चेति। विश्वस्यैतस्य यदारम्भणं किञ्चिन्मूलतत्त्वं निर्विशेष आत्मा वा, ईश्वरात्मा वा ईश्वरांशभूतो जीवात्मा वा, तदेतत्त्रयमात्मब्रह्म मुख्यतो जिज्ञासितं भवति। अथैतस्यात्मनः सृष्टिकारणताप्रतिपादकं यत् शास्त्रं श्रुतिर्वा, स्मृतिर्वा, विज्ञानं वा, तदिदं त्रिविधं शास्त्रब्रह्म द्वारानुबन्धादेव खलु भवति कथंचिज्जिज्ञास्यम्। तच्छास्त्रब्रह्मपदार्थपरिज्ञानादेवैतदात्मब्रह्मपदार्थपरिज्ञानस्य संभाव्यमानत्वात्। तस्मादात्मनिर्णयकोपनिपल्लक्षणस्य शास्त्रब्रह्मणोऽपि

पदपदार्थमीमांसा नितान्तमपेक्ष्यते । अत आत्मशास्त्रस्यापि निर्णयायोपयुज्यते नूनमियं ब्रह्ममीमांसा । तथा चैतेषामनेकविरुद्धार्थप्रतिपादकानां श्रुतिवाक्यानामैदंपर्य्यं दर्शयितुमात्मन्येव च तेषां तात्पर्य्यं ग्राहयितुं शास्त्रब्रह्मनिरूपणपूर्वकमात्मब्रह्मनिरूपणं प्रतिजानीते ।

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । जन्माद्यस्य यतः । शास्त्रयोनित्वात् ।" इति ।

ननूक्तं पूर्वमिह खलु ब्रह्ममीमांसायामात्मशास्त्रे निरूपयितुमिष्टो ब्रह्मपदार्थस्त्रेधा विज्ञायते—आत्मब्रह्म, आत्मशास्त्रब्रह्म, आत्मवीर्य्यं ब्रह्म चेति । तत्रेह मीमांसाशास्त्रे वीर्य्यब्रह्मणो मीमांसा न क्रियते तस्मान्न्यूनता भवति इति चेदुच्यते । ज्ञानलक्षणस्यात्मस्वरूपधर्मस्यानावरणस्थित्यौपयिकः शक्तिविशेषो ब्रह्मवीर्य्यम् । तत्स्वरूपप्रतिपत्तौ चात्मशास्त्राणां परस्परविरोधो नास्तीति कृत्वेह ब्रह्ममीमांसाशास्त्रे वीर्य्यब्रह्ममीमांसा नापेक्ष्यते । संदिग्धार्थानां सन्देहनिराकरणायैव तत्तन्मीमांसाया अपेक्षणीयत्वात् । वीर्य्यब्रह्मविज्ञानस्य चासंदिग्धार्थत्वात् ॥ तथा चेह मीमांसाशास्त्रे द्विविधं ब्रह्म मीमांसनीयं निष्कृष्यते—शास्त्रब्रह्म च आत्मब्रह्म चेति विद्यात् ॥

इति ब्रह्ममीमांसायां मीमांस्यब्रह्मद्वैविध्यनिर्णयः ।

विशुद्धाव्ययः, ईश्वराव्ययः, जीवाव्ययः, इत्येवं त्रेधा दृष्टा आत्मानः श्रुतिस्मृतिविज्ञानभेदात् त्रेधा प्रतिपन्नानि शास्त्राणि तानीमानि पञ्चब्रह्माणीत्युक्तं पूर्वम् । तत्रात्मत्रयशास्त्रत्रयमीमांसायामस्यामात्ममीमांसायाः शास्त्रयोनित्वसिद्धान्तादादौ शास्त्रमीमांसा दर्शयितव्या । अतश्चात्र सर्वतः पूर्वमात्मशास्त्राणां परिसंख्यानं क्रियते । तथा हि—

आत्मशास्त्राणां पाञ्चविध्यम्—

यथेदं मीमांसाशास्त्रमात्मविज्ञानशास्त्रं तथा नूनं सन्त्येव ब्रह्ममीमांसातिरिक्तान्यपि लोके सुप्रचरितानि ततः पूर्वाण्येव चीण्यात्मशास्त्राणि वेदश्रुतयः, उपनिषच्छ्रुतयः, दर्शनस्मृतयश्चेति । तेन चेह पञ्चात्मनिरूपणशास्त्राणि प्रसिद्ध्यन्ति—

१—त्रयीवेदाथर्ववेदभेदात् प्रसिद्धानि द्विविधानीमानि वेदशास्त्राणि—वेदाः श्रुतिः ।
२—उपनिषन्नामानि वेदान्तशास्त्राणि । उपनिषदः श्रुतिः ।
३—नाना चार्षेयाणि दर्शनशास्त्राणि । दर्शनानि स्मृतिः ।
४—अथ शारीरकनिरूपणं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रम् । मीमांसा विज्ञानम् ।
५—भगवद्गीतोपनिषन्नामकं योगशास्त्रम् । गीता विज्ञानम् ।

पञ्चानामात्मशास्त्राणां श्रुतिस्मृतिविज्ञानभेदात् त्रैविध्येन विभागः

तदित्थं वेदा, उपनिषद, दर्शनानि, मीमांसा, गीता चेति पञ्चात्मनिरूपणशास्त्राणि। तत्र तावदिदं वेदशास्त्रं वेदान्तशास्त्रं चेत्युभयं प्रत्यक्षमूलकं श्रुतिशास्त्रमत एव स्वतःप्रमाणम्। साक्षात्कृतसर्वधर्मभिरेवोपदिष्टत्वात्। यत्तु पुनरिदं दर्शनशास्त्रं तदार्षेयतया स्मृतिशास्त्रमुपपद्यते। तस्य च स्मृतिशास्त्रस्य श्रुतिमूलकत्वे प्रामाण्यमिष्यते न स्वातन्त्र्येण॥ अथेदं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं गीताशास्त्रं चेत्युभयं विज्ञानशास्त्रं न तु दर्शनशास्त्रं "जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्" इति सूत्रद्वयस्वारस्येन आत्मनिरुक्तिशास्त्रनिरुक्तिभेदभिन्नैतत्प्रकरणद्वयविभक्तस्यैतस्य मीमांसाशास्त्रस्यात्मनिरुक्तिविभागापेक्षया कथंचिद् दर्शनशास्त्रत्वोपपत्तावपि शास्त्रनिरुक्तिविभागापेक्षत्वे दर्शनशास्त्रत्वाभ्युपगमानौचित्यात्॥ दर्शनशास्त्रस्य शास्त्रनिरूपकत्वाविवक्षणात्॥ एवमेव वेदवेदान्तदर्शनशास्त्रेभ्यो मीमांसाशास्त्राच्चोर्ध्वमुपदिश्यमानमिदं गीताशास्त्रं दर्शनानां मूर्द्धन्यमपि विज्ञानशास्त्रमेवाध्यवसीयते न तु दर्शनशास्त्रम्। सर्वदर्शनन्यूनतापूरणार्थमेवैतस्य भिन्नप्रस्थानेन प्रादुर्भूतत्वात्॥

यद्यपि पञ्चाप्येतान्यात्मशास्त्राणि विश्वस्यात्मनः स्वरूपनिरूपणायैव प्रवृत्तानीति सत्यम्। तथापीमे वेदा उपनिषदश्च विशुद्धमेवात्मनः स्वरूपं प्रतिज्ञामात्रेणोपदिशन्ति न त्वात्मनः स्वरूपनिरूपणे युक्तीः परिदर्शयितुमपेक्षन्ते। अत एव नात्मनो विज्ञानोपयोगिनोऽनुबन्धान् प्रदर्शयन्ति। इदं तु मीमांसाशास्त्रं विज्ञानेन प्रवर्तमानमात्मनः स्वरूपं परीक्षापूर्वकं यथावदुपपादयितुमात्मानुबन्धानपि कांश्चित् प्रतिपादयतीति वक्ष्यते। तस्मादस्ति श्रुतिशास्त्राद्दर्शनशास्त्राच्चैतस्मिन् मीमांसाशास्त्रे विशेषः।

इत्थं चैतस्य मीमांसाशास्त्रस्य, गीताशास्त्रस्य च विज्ञानशास्त्रत्वाद्दर्शनशास्त्रापेक्षया विशिष्टं प्रामाण्यमभ्युपेयते—परीक्षार्थत्वात् सत्यसिद्धान्तभूतासंदिग्धार्थविषयकत्वात्। दर्शनशास्त्रं तु परीक्षायै समुपयुक्तं महर्षीणां प्राथमिकं पदार्थदर्शनम्। दर्शनविज्ञानचारित्र्याणां शास्त्रप्रतिपाद्यविषयाणां मध्ये दर्शनस्य प्राथमिकप्रवृत्तिसिद्धावमहलक्षणज्ञानविषयार्थप्रतिपादकतया परीक्षासापेक्षत्वात्। स एव दर्शनशास्त्रापेक्षया मीमांसाशास्त्रे विशेषः।

अपि च दर्शनैर्दर्शितानां सिद्धान्तानां परस्परविप्रतिपत्तौ तेषां समन्वयेन सामञ्जस्य करणाय मीमांसोपयुज्यते। तस्मादिदं मीमांसाशास्त्रं दर्शनाद्युक्तार्थपरीक्षकतया तदुपरतन्त्रमेवाध्यवसेयमिति युक्तम्॥

दर्शनशास्त्रमीमांसाशास्त्रयोः प्रतिपत्तिवैलक्षण्यान्मीमांसाशास्त्रस्य विज्ञानशास्त्रत्वम् ।

अथेदमत्रापरं बोध्यम् । नैतस्य मीमांसाशास्त्रस्य वेदोपनिषद्दर्शनशास्त्रेभ्यो गतार्थत्वमाक्षेप्यम् । मीमांसाप्रकरणस्यैतस्य विज्ञानशास्त्रतया श्रुतिस्मृतिशास्त्रापेक्षया वैधर्म्याद् भिन्नप्रस्थानेन प्रवर्तमानत्वात् ।

केचित्तु अद्यतना मीमांसाशास्त्रस्यैतस्य वेदान्तशास्त्रत्वमाचक्षते । अन्ये पुनः केचिदस्य, दर्शनशास्त्रेष्वेवान्तर्भावमिच्छन्ति । तदुभयमज्ञानात् । उपनिषत्सु वेदान्तशब्दस्य प्रतिपन्नतयैतस्मिन् मीमांसाशास्त्रे वेदान्तशब्दप्रयोगस्यानुचितत्वात् । अत्र मीमांसाशास्त्रे वेदोपनिषद्दर्शनशास्त्राणां मीमांसाविधानेन वेदवेदान्तदर्शनमीमांसात्वे सिद्धेऽपि दर्शनशास्त्रत्वानुपपत्तेश्च ।

अपि च—एतयोरुभयोर्दर्शनशास्त्रविज्ञानशास्त्रयोः प्रतिपाद्यविषयाणां कथंचिद् भेदोऽनुभूयते । तथा हि—दार्शनिकनये तावदीश्वरजीवाभ्यां जगतोऽतिरिक्तत्वं समर्थ्यते । वैज्ञानिकनये तु जगतस्ताभ्यामनतिरिक्तत्वं प्रतिज्ञायते । दृश्यते हि—ईश्वरः जीवः जगत्—इत्येवं त्रिकाण्डत्वं प्रमेयस्याभिमन्यमानानाममीषां दार्शनिकविवेचकानामीश्वरपरमत्वप्रतिपत्तिसिद्धान्तः । अथ—जीवः ईश्वरः परब्रह्म इत्येवं तु त्रिकाण्डत्वं प्रमेयस्य समीक्षमाणानामस्माकं वैज्ञानिकविवेचकानामीश्वरमध्यमत्वप्रतिपत्तिसिद्धान्तः । निर्धर्मकत्वसर्वधर्मोपपन्नत्वाभ्यामात्मद्वैविध्ये स्थिते सर्वधर्मोपपन्नस्याल्पमात्रत्वमहामात्रत्वाभ्यां जीवेश्वरभेदात् पुनर्द्वैविध्ये प्रमेयत्रिकाण्डताया विशिष्योपपन्नत्वात् । असंज्ञत्वान्तःसंज्ञत्वससंज्ञत्वरूपैरात्मनस्त्रैविध्योपपत्त्या जडजगतां जीवेष्वन्तर्भावसंभवाच्च ॥

अथान्यथा चेदं प्रतिपत्तव्यम् । ईश्वरात्मप्रकृतिजातस्य बाह्यजगतस्तावदीश्वरे तथा जीवात्मप्रकृतिजातस्यान्तर्जगतो जीवेष्वन्तर्भावः संपद्यते । "प्रजापतिरात्मन्येव प्रजापतिमघत्तेति" श्रुतिसिद्धान्तात् । तथा च नेदं जगज्जीवेश्वराभ्यां व्यतिरिच्यते । अथैष परपुरुषस्त्वव्ययस्त्रेधा व्यवतिष्ठते—विश्वातीतः—विश्वात्मा—विश्वं चेति । तत्र चेतनत्वाचेतनत्वाभ्यां जीवजगद्रूपाभ्यां विभक्तमिदं सृष्टं विश्वं तावदन्यद्रूपम् । "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति" श्रुतिसिद्धान्तात् सृष्टप्रविष्टरूपो विश्वात्मा चयमीश्वरोऽन्यद्रूपम् । ताभ्यामतिरिच्यते विश्वातीतं तृतीयं रूपम् । तेनेदमव्ययपरमत्वं [illegible]निकः पन्थाः । तथा चेत्थं दर्शनशास्त्रविज्ञानशास्त्रयोः प्रतिपत्तिवैलक्षण्ये

सिद्धे सत्येतस्य खलु मीमांसाशास्त्रस्य विज्ञानशास्त्रत्वाद्दर्शनशास्त्रत्वं नास्तीति सिद्धम् ॥

५—विषयभेदाद्गीताशास्त्रस्यापि विज्ञानशास्त्रत्वम् ।

अथैवमेव गीतोपनिषदोऽपि दर्शनशास्त्रापेक्षया सिद्धान्तप्रतिपत्तिभेददर्शनाद् विज्ञानशास्त्रत्वमेवावगम्यते । तथा हि—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ॥ ८ । १८ ।
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ ८ । २० ।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १५ । १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५ । १७ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ॥ ९ । ७ ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ८ । २१ ॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ ७ । २४ ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ ८ । २२ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ ९ । १० ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ४ । ६ ॥

इत्येवमीश्वरशरीरे जीवशरीरे वाऽधितिष्ठतः परपुरुषस्य निर्धर्म्मकस्याव्ययस्य प्रकृतिद्वारा जगदुत्थापयितुरीश्वरजीवाभ्यां सर्वधर्म्मोपपन्नाभ्यां विभिन्न रूपमुच्यते गीतायाम् । आत्माऽयमव्ययः । आत्मन्विनो स्वेतावीश्वरजीवौ भवतः । तस्मादय-मव्ययपरको गीतायां वैज्ञानिक पन्था—इत्यस्ति दर्शनशास्त्रसिद्धान्तेभ्यो गीता-

सिद्धान्तस्य भेदः। तेनैतस्य गीताशास्त्रस्यापि विज्ञानशास्त्रत्वप्रतिपत्त्या दर्शनशास्त्रत्वं नास्तीति सिद्धम्॥

६—श्रुतिदर्शनविज्ञानशास्त्राणामात्मसाक्षात्कारोपायत्वम्।

अपि च—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"। इति महतामादेशः। तत्र द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्यः। तस्य च साक्षात्कारस्य—श्रवणं मननं निदिध्यासनं चेति त्रीणि कर्माण्युपायभूतान्युक्तानि। तेषु वेदवेदान्तशास्त्रेभ्योऽयमात्मा गुरूपदेशद्वारा श्रूयते। दर्शनेभ्यस्तूपपत्तिभिरन्यभुतस्यार्थस्य मननं क्रियते। अथ विज्ञानशास्त्रादस्यात्मनो निदिध्यासनं संपद्यते। तदित्थमेतान्यात्मशास्त्राण्यात्मज्ञानायोपयुज्यन्ते।

३—वेदतत्त्वनिरुक्तः

१—आत्मवदेवात्ममहिम्नो वेदस्य वाक्प्राणमनोमयत्वम् ।

मनःप्राणगर्भितायाः सत्याया वाचो विवर्त्ता हीमे वेदा आत्मनो महिमानो भवन्ति । तत्रेदं तावदध्यवसेयम्—सर्वं खल्विदं ब्रह्म । स प्रजापतिरस्य विश्वस्य । त्रेधा चैष विविच्यते—ज्ञानमयः, कर्म्ममयः, अर्थमयश्चेति । आनन्दो विज्ञानं मन इति त्रितयं ज्ञानतन्त्रम् । तत्प्रधानः पुरुषश्चिदात्मा । तस्य महिमा वेदो मनोमयः । अथ मनः प्राणो वागिति त्रितयं कर्म्मतन्त्रम् । तत्प्रधानः पुरुषः कर्म्मात्मा । तस्य महिमा वेदः प्राणमयः । अथ वागापोऽग्निरिति त्रितयमर्थतन्त्रम् । तत्प्रधानः पुरुषो भूतात्मा । तस्य महिमा वेदो वाङ्मयः । अस्ति चायमात्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः । तस्मादेवास्य महिमा वेदोऽप्युपपद्यते वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः । सवेदोऽयं मनसा विज्ञानं जनयति, प्राणेन यज्ञं प्रवर्त्तयति, वाचा सर्वमाकाशप्रदेशं परितोऽभिव्याप्नोति । प्रजापतिश्चायं सूर्य्यो विश्वस्यात्मा समेतमाकाशप्रदेशं व्याप्नुवानो वेदमयः संपद्यते । अत एवाऽयं मनोमयः प्राणमयो वाङ्मयः प्रतपतीति कृत्वा—"त्रयी वा एष विद्या तपतीति" श्रूयते । स खलु प्रजापतिः वेदादेवैतां सर्वां सृष्टिं सृजतीति कृत्वा "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" इत्याहुः । तेनैतद् विश्वं मनोमयं प्राणमयं वाङ्मयं चोपपद्यते । वेदमय एवायमीश्वरो विज्ञायते । तेनैतद्वेदान्न व्यतिरिक्तं किंचिदस्तीति विद्यात् ।

२—वेदमयेश्वरस्याकाशत्रयमधिष्ठानम् ।

अथेदमत्रापरं बोध्यम् । अर्थयोनिर्गगनाकाशः । स त्रिविधः—परमाकाशः—पुराणाकाशः—भूताकाश इति । खं ब्रह्मोरुसीमो ब्रह्माकाशः परमः । परमेश्वराधिष्ठितपरमाकाशेऽनन्तानि विश्वानि ॥ १ ॥ अथ "शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमिति" श्रुतिसिद्धः शुनासीरीयादिषु प्रतीतः शुनाभिधान इन्द्राकाशः पुराणः । एतमेव च शुनं नामेन्द्राकाशं वर्तमानयुगे केचिद् ईश्वरनाम्ना व्यपदिशन्ति । एष एवामृतदेवतायोनिः पुराणाकाशः । महद्ब्रह्मयोनाश्वरश्वेनाधिष्ठितोऽयं महेश्वरस्तत्राकाशेऽभिव्याप्नोति ॥ २ ॥ अथ शब्दगुणकः पुनरन्यः पञ्चभूतेष्वाद्यो भूताकाशः । सोऽयं

योनिर्मर्त्यानां भूतानाम् । तत्रैतस्मिन् भूताकाशे वागापोऽग्निशुक्रप्रकृतिकोऽयमाधिकारिकस्त्र्यक्षरपुरुषोऽव्ययपुरुष ईश्वरोऽधितिष्ठति । त इमे यथाध्यात्मं शारीराकाशहृदयाकाशदहराकाशाः शान्तात्मान्तरात्मभूतात्मभिरधिष्ठिता अन्तरान्तरीकृता विज्ञायन्ते तथेहाधिदैवतममी परमाकाशभूताकाशा अन्तरान्तरीकृताः प्रतिपत्तव्याः ॥

अविनाभूताः परस्परेणामी आकाशाश्च वेदाश्च । नान्तरेणाकाशं वेदा उत्पद्यन्ते । आकाशविशेषाच्च वेदा विशिष्यन्ते । तथा हि—परमे व्योम्नि ब्रह्मणस्ताबदात्मनो महिमा कश्चिदनन्तो वेदः ॥ अथैतस्मिन्निन्द्राकाश इन्द्रस्यात्मनो महिमा दिव्यवेदः । सोऽयमपौरुषेयोऽमृतत्वात् देवेभ्यः प्रथमत्वाच्च । सूर्य्यादूर्ध्वं च तस्याभिव्याप्तिः ॥ अथैतस्मिन् भूताकाशे चित्यस्याग्नेरात्मनो महिमा गायत्रीमातृको वेदः । स पौरुषेयः । सूर्य्यादर्वाचीनस्य मृत्युनाप्तत्वाख्यानात् । मृत्युनाप्तस्य पुनराद्यन्तशालितया पौरुषेयत्वोपपत्तेः । अथैषां त्रिविधानां वैज्ञानिकानामात्मवेदानामीश्वररूपविशेषाणामुपपादकः शब्दग्रन्थविशेषः शब्दब्रह्ममयं वेदशास्त्रम् । तदुक्तम्—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" ॥ इति ॥

तदित्थमेष शाब्दो ग्रन्थविशेषो भवत्यात्मशास्त्रम् । स खलु अनन्तवेददिव्यवेदगायत्रीमातृकवेदैतद्वैज्ञानिकवेदत्रयापेक्षया चतुर्थो वेद उपपद्यते । वैज्ञानिकवेदः शाब्दवेद इति द्विविधो वायं वेदः प्रतिपत्तव्यः ॥ वाङ्मयं प्राणमयं मनोमयं चेदमुभयविधं ब्रह्म चिदात्मनिरूपणं विद्यात् । सोमसहकृतत्रैलोक्यव्यापिविराडग्निरयमात्मा ब्रह्म । गतिस्थितिस्वभावौ वाह्याकाशौ सयुजौ यजुःपुरुषौ सोऽग्निः । चित्या चैष सर्वां सृष्टिं प्रजनयति तस्मादेव चिदात्मा । तस्योपपादका हीमे शास्त्रवेदवेदान्ता उपनिषदो दर्शनस्मृतयश्चेति बोध्यम् ॥

३—वैज्ञानिकः शाब्दिक इति द्विविधो वेद आत्मनो महिमा ।

वाङ्मयः प्राणमयो मनोमय एष आत्मा । तत्रेयं वाग् द्विविधा—शब्दब्रह्मरूपा अर्थब्रह्मरूपा च । अग्निरर्थः, वाचो विवर्तोऽयमात्मनोऽग्निर्महिमा वेदः । स द्विविधः—शाब्दिकवाग्विवर्तः शब्दमयः । आग्नेयवाग्विवर्तो विज्ञानमयः । शाब्दिकवेदः शास्त्रम् । आग्नेयवेदो विज्ञानम् । शास्त्रवेदः पौरुषेयः । विज्ञानवेदस्त्वपौरुषेयः । विज्ञानमीश्वररूपं वेदः । तद्बोधकं शास्त्रमन्यः शब्दग्रन्थो वेदः । शब्दग्रन्थो वेदशरीरं विज्ञानविभागो वेदस्यात्मा । स एक एवायं वेदो नामार्थः

शरीरेणात्मना च द्वेधाभिनीयते नित्यानित्याभ्यामात्मशरीराभ्यां मनुष्यादिप्राणिवत्। वृक्षवदस्य च वेदस्य भिन्नात्मनो भेदेन शाखाविभागः प्रकल्पते। सोऽयमात्मशरीरयोस्तयोरुभयोः साम्येन शाखाविभागः प्रवर्तते। तत्र शास्त्रवेदशाखाविभागाधारभूतो वैज्ञानिकवेदशाखाविभागः प्रदर्श्यते॥

४—विश्वविज्ञानं वेदशास्त्रम्।

विश्वविज्ञानं वेदः। अग्नीषोमात्मकं विश्वम्। अग्निसोमयोर्विज्ञानमेवैतद्विश्वविज्ञानम्। विश्वारम्भकाग्निसोमलक्षणब्रह्मविषयकदिव्यविज्ञानौपयिकं शास्त्रब्रह्म। परोक्षार्थद्रष्टृषु महर्षिषु चेदं विज्ञानौपयिकं ब्रह्म स्वयं प्रादुरभूत्। स वेदः। उक्तं चाभियुक्तैः—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥
क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः। (मनुः)
वेदान् महर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाऽच्युतनोदिताः॥ (भागवते)
अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः॥ (भागवते)
आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥ (भर्तृहरिः)

५—अग्नेः सोमस्य च विज्ञानं वेदः।

ज्ञानं च कर्म च अर्थश्च इत्येतानि त्रीण्यात्मनो रूपाणि। तान्येवैतस्य विश्वस्य संत्राणि। तेष्वर्थतन्त्रयोवर्थं त्रेधा—वाग् आपः अग्निरिति। एषां विज्ञानं वेदः।

६—अग्निवेदः।

अग्नीषोमात्मकं विश्वम्। प्राणः, वाग्, अन्नादः,—इति त्रयोऽग्नयः। आपः अन्नमिति द्वौ सोमौ। आप इति प्राणः श्रोत्रं च। अन्नमिति मनः। मनःप्राणश्रोत्राणि सोमरूपः। अग्निगर्भितः सोमो विश्वरूपम्। तत्र मनोमयप्राणवाग्-

गर्भितानामपां विज्ञानं त्रयीवेदः । अन्नादगर्भितानामपां विज्ञानमथर्ववेदः । तत्र प्राणाग्निर्द्वेधा मुख्योऽनूचीनश्च । एकोऽमृताग्निस्त्रैलोक्यव्यापी प्रजापतिर्मुख्यः । त्रयो वेदाः सहैनं विदन्ति । अथानूचीनास्त्रयो लोकत्रयोपाधिभेदाद् भिन्नास्तत्तल्लोकाध्यक्षाः । तेषां पृथग्विद्या इमे त्रयो वेदाः । अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः । आदित्यस्य सामवेद इति । सोऽयमग्नित्रयनिरूपणं त्रयीवेदः ।

७—सोमवेदः ।

अथ भृग्वङ्गिरसौ सोमः प्रजापतिः । तस्यैतस्य चतुर्थलोकाधिष्ठातुः सोमस्य निरूपणं शास्त्रं भार्गवश्चाङ्गिरसश्चेति द्वेधा विभक्तोऽयमेकोऽथर्ववेदः । द्वयोरपि सोमयोरेको लोक इत्ययमेकोऽथर्ववेदः । लोकाश्चत्वार इत्यतोऽमी वेदा अपि चत्वारः । अग्निसोमभेदात् प्रजापतेर्द्वैविध्यमस्तीति कृत्वा तन्निरूपणस्यैतस्य प्राजापत्यविज्ञानशास्त्रस्य वेदस्य द्वैविध्यमुपपद्यते—अग्नेस्त्रयीवेदः सोमस्याथर्ववेद इति । अथर्ववेदो ब्रह्मवेद इति नार्थान्तरम् । चत्वारो हीमे वेदा इदं विश्वं विज्ञायते । तथा च श्रूयते—

> "ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
> सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥"

८—देवतारहस्यविज्ञानोदयिकत्वे शब्दश्च विद्या च मन्त्रः ।

अग्निः सर्वा देवताः । सोमः सर्वा देवताः । देवतानिगूढरहस्यविज्ञानोदयहेतुः शब्दो विद्या च मन्त्रः । अग्निदेवतारहस्यस्य विज्ञानं वचनं चाङ्गिरोमन्त्रः । सोमदेवतारहस्यस्य विज्ञानं वचनं चाऽथर्वमन्त्रः । तत्रापि शाब्दिके वेदे वचनात्मको मन्त्रः । अथ वैज्ञानिके वेदे विद्यात्मको मन्त्र इति भेदः । तयोः शब्दात्मको मन्त्रः प्रसिद्धो लोके । विज्ञानात्मकस्तु मन्त्रो मन्त्रसंहितायां श्रूयते—

> "रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् ।
> त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ।" ३ । ४ । ९३ ।

इत्यादिषु । सायणस्त्वत्र मन्त्रैः स्तुतिवाक्यैराहूत इति शब्दपरमेवार्थं चक्रे । तत्र अग्नित्रैविध्यादग्निविज्ञानात्मका मन्त्रास्त्रिविधाः—ऋचो यजूंषि सामानीति । सेयं त्रयीविद्या अग्निवेदः ।

९—अग्निदेवतारहस्यभेदाः षड्विधाः ।

मनःप्राणगर्भितानां वाचां विवर्तास्त्रयीवेदविषयाः षड्भावाः—			
१—	महोक्थमूर्तिश्च ।		
२—	महोक्थमूर्तिश्छन्दश्च—इति द्वे ऋग्रूपे वाक्प्रधाने ।		
३—	अभ्यूतमाणश्च ।	६	आग्नेयाः
४—	वितानच्छन्दश्च—इति द्वे सामरूपे प्राणप्रधाने ।		
५—	गतिमतो वायुः । स इन्द्रो विष्णुर्वा यत्तरः ।		
६—	स्थितिमत आकाशः । स महाक्षरः । इति द्वे यजूरूपे मनःप्रधाने ।		
	इति षड्ब्रह्माणि मनःप्राणवाङ्मयानि ।		

१०—सोमदेवतारहस्यभेदाः षड्विधाः ।

अथाग्निगर्भितानामपां विवर्ता अथर्ववेदविषयाः षड्भावाः—			
१—	आपः (४)		
२—	वायुः = अथर्वा, पुतात्ममारुतः, रुद्रः, हंसः— = ६३ (४) (५) (४०) (१४)		
३—	सोमः (१०) इति त्रयो भृगवः सोमप्रधानाः तेजोगुणाः ।	७७	
४—	अग्निः (८)		
५—	वायुः = यमः, घोररुद्रः, मरुतः— = ७७		
६—	आदित्यः (१२) इति त्रयोऽङ्गिरसः, अग्निप्रधानाः तेजोगुणाः ।	९७	
	इति षड्ब्रह्माणि सोमाग्निमयानि ।	१७४	सौम्याः

११—वैज्ञानिकानामृग्यजुःसाम्नां रूपाणि ।

अथैतेषु यानीमानि पूर्वाणि षडग्निरूपाण्युक्तानि तान्येतानि वैज्ञानिकमन्त्र-
रहस्यानि सूर्य्यस्थाने तावन्निदर्श्यन्ते । तथा हि ।

"सा वा एषा वाक् त्रिधा विहिता ऋचो यजूंषि सामानि । मण्डलमेव ऋक् । अर्चिः
सामानि । पुरुषो यजूंषि । यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम् । ता ऋचः । स ऋचां लोकः ।
अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि । स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्-
न्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः । तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति । स
एष एव मृत्युः--य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः । अथैतदमृतं यदेतदर्चिर्दीप्यते । तस्मान्मृत्युर्न
म्रियते अमृते ह्यन्तः । यदेतदर्चिर्दीप्यते—इदं तत् पुष्करपर्णम्" ॥ इति (शत १० । ३ । ४)

चित्याग्निर्मर्त्यः । चितेनिधेयोऽग्निरमृतम् । प्रतिमूर्त्तिर्ह्येदं त्रयमित्थमेवाध्यव-
सेयम् । तथा हि—सर्वत्रैवैषा स्पृश्या मूर्त्तिर्महोक्थम् । तस्यायामविस्तारघनतान्योन्य-
परिग्रहलक्षणो वागवच्छेदश्छन्दः । अथ महोक्थादुत्थिताः उद्वचः पञ्चपर्य्यन्तं परितः
संचरन्त्य उत्तरोत्तरं ह्रसीभवन्त्यः स्पर्शानुभावायोग्या दृश्या मूर्तय उक्थानि ।
उक्थमूर्त्तयस्तासां मध्यवर्त्तिनी महोक्थमूर्त्तिश्च वाचा प्राणगर्भितयोपपद्यन्ते ।
अथ उक्थमूर्त्तीनां परितः साम्ये वितानं वितानच्छन्दः । वितानं गानमित्ये-
कोऽर्थः । गीतिषु सामाख्या ।

अथ ऋगिति वाचो रूपम् । ऋचमध्यूढं साम । तत् प्राणरूपम् । इयमृक् ।
तत्राध्यूढोऽग्निः साम । अन्तरिक्षमृक् । तत्राध्यूढो वायुः साम । द्यौर्ऋक् । तत्राध्यूढो
आदित्यः साम । नक्षत्राण्यृक् । तत्राध्यूढश्चन्द्रः साम । श्रोत्रमृक् । तत्राध्यूढं मनः
साम ॥

अथ पुरुषो यजुः । तत्रार्वाग्गतिर्विष्णुरक्षरः । पराग्गतिरिन्द्रोऽक्षरः । इन्द्राविष्णू
यू कं ब्रह्म । तदिदं यत् । स्थितिलक्षणो ब्रह्मा प्रतिष्ठा । स आकाशः खं ब्रह्म । तदिदं
जूः । तथा चेदं यच्च जूश्चेत्युभयं समुच्चितं यज्जूः । तदिदं पारोक्ष्येणोक्तं यजुः । गति-
स्थितिलक्षणं ब्रह्म । तदुक्तम् । अयं वाव यजुर्योऽयं पवते । एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति ।
एतं यन्तमिदमनुप्रजायते । तस्माद्वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः यदिदमन्तरिक्षम् ।
एतं ह्याकाशमनुजवते । तदेतद्यजुः—वायुश्चान्तरिक्षं च । यच्च जूश्च तस्माद् यजुः ।
तदेतद् यजुः ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितमृक्सामे वहतः । इति
तस्यैते ऋक्सामे छन्दः । नान्तरेण छन्दसा कश्चित् पुरुष उपपद्यते । अथ छन्दो-
ऽपीदं पुरुषमाश्रित्यैवोपपद्यते । अत एव श्रूयते । आत्मा ह्यग्निः तदेनमेते उभे रसो

भूत्वाऽपीतः । ऋक् च साम च तदुभे । ऋक्सामे यजुरपीत इति । तथा चैताभ्यामृक्सामाभ्यां यजुषा च विनाकृतं न किञ्चिद्भूतमुपपद्यते । अत एव श्रूयते—

"अथ सर्वाणि पर्य्यैक्षत । ॥ त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्" ।

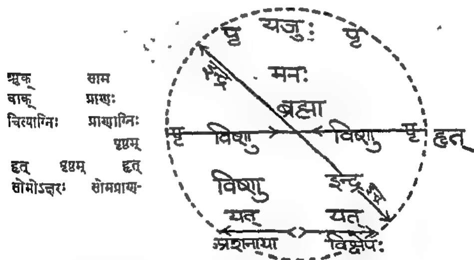
इति (शत १० । २ । १)

स एष मनःप्राणवाङ्मयोऽयं वेदपदार्थे मनःप्राणवाङ्मयस्यात्मनो महिमेत्याख्यायते । मूर्तिरृक् पुष्करपर्णं साम । अथाग्निर्यजुरिति वैज्ञानिकवेदरूपाणि बोध्यानि ।

वैज्ञानिकानां भृग्वङ्गिरसां रूपाणि ।

अथ स्नेहोऽपां रूपम् । तेजोऽग्निरूपम् । स्नेहतेजसी सोमः । सोमद्वयविद्यात्मका मन्त्रा द्विविधाः—भृगवश्चाङ्गिरसश्चेति ।

आपो वायुः सोम इति त्रिविधाः स्नेहप्रधाना भृगवः । अत्र वायुश्चतुर्विधोऽथर्वा ।



हृदयस्थाः त्रयः प्राणाः ॥ ब्रह्मा इन्द्राविष्णु

१—मण्डलव्यापी प्रतिष्ठाप्राणः— जूराकाशः । ब्रह्मा अक्षरः ।

२—मण्डले पृष्ठात् हृदयान्तं संचरन्नशनायुर्विष्णुः । अन्तरात्मा अक्षरः ।

३—मण्डले हृदयात् पृष्ठान्तं संचरन् विक्षेपण इन्द्रः अक्षरः ।

हृदयपृष्ठस्थास्त्रयः प्राणाः ॥ अग्निरग्निः—सोमः

१—हृदये चित्याग्निः पृष्ठान्तमूर्तिं जनयति । एषोऽग्निर्वाक् हस्वीभवन्तीमृचं जनयति ।

२—हृदये प्राणाग्निः पृष्ठान्तं वितानं जनयति एषोऽग्निः प्राण उरु भवन् सामानि जनयति ।

३—पृष्ठे सोमो हृदयान्तं सचित्राग्नौ हूयमानो मूर्तिं च साहस्रं च जनयति ।

पञ्चविधो द्युतानमारुतः। चत्वारिंशद्विधो मृदः। चतुर्दशविधो हंस इति चतुर्धा। त एते त्रिषष्टिः॥ ६३॥ अथापश्चतुर्धा सोमो दशधा इत्यन्ये। अथाग्निर्वायुरादित्य इति त्रिविधास्तेजःप्रधाना अङ्गिरसः। अत्र वायुश्चतुर्दशविधो यमः। त्रिविधो घोररुद्रः। एकादशविधः शिवरुद्रः। ऊनपञ्चाशद्विधो मरुतश्चेति चतुर्धा। त एते सप्तसप्ततिः। अथाग्निरष्टधा। आदित्यो द्वादशधा इत्यन्ये। तानीमानि षड् ब्रह्माणि सोमरूपाणि। अन्नादाग्निगर्भितानामपां विवर्त्ता हीमे षड् भावा अथर्ववेदविषयाः। तानीमानि द्वादशविधानि देवतारहस्यानि स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं पुनः प्रदर्श्यन्ते। यथा*—

विज्ञानवेदस्यापौरुषेयत्वं शब्दवेदस्य पौरुषेयत्वम्

अग्नौ आहूयमानः सोमो यज्ञः। सहयज्ञाः प्रजाः सृज्यन्ते। तेन खलु मूर्तानि चामूर्तानि च सर्वाण्येवैतानि विश्वरूपाणि यज्ञप्रजापतयः। द्वादश ब्रह्मलक्षणानि। सोममयो वेद एवैतस्य प्रजापतेरीश्वरस्यात्मनो रूपं विज्ञायते। स एष वेदोऽपौरुषेयः प्रतिपत्तव्यः ईश्वरप्रजापतिरूपत्वात्। यस्तु पुनरपौरुषेयवेदप्रत्ययजनकः शब्दग्रन्थः सोऽपि शब्दार्थयोस्तादात्म्यसिद्धान्ताद् वेद एवोच्यते व्याकरणज्यौतिपादिग्रन्थानां व्याकरणज्यौतिपादिशब्देन व्यवहारवत्। तत्रैष शाब्दो वेदः पौरुषेयः प्रतिपत्तव्यः। "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" इति स्मृतिसिद्धान्तात्। एवमपि योऽयं शाब्दप्रबन्ध-प्रत्यायितो विज्ञानार्थप्रबन्धः स एष सर्वोपि वेदभागोऽपौरुषेय एव। आग्नेयाना-मृग्यजुःसाम्नां त्रयाणां सौम्यस्य च भृग्वङ्गिरोलक्षणस्याथर्वणः स्वरूपसंदर्भरचना-या मनुष्यशक्तिबहिर्भूतत्वात्। ईश्वरस्य पुरुषतया तत्कर्तृकत्वात्तु पौरुषेयत्वं विज्ञान-वेदस्यापि न प्रत्याख्यायते। अथ विज्ञानवेदस्येश्वरशरीरत्वाभ्युपपत्तौ पुनरेतस्य पौरुषेयत्वं नोपपद्यते—इति निपुणं भाव्यम्॥

मन्त्रब्राह्मणभेदाद् वेदप्रकरणद्वैविध्यम्

तदिदमुभयविधं वेदशास्त्रं पुनर्द्विविधम्। ब्रह्म च ब्राह्मणं चेति। ऋग्यजुः-सामानीति त्रिधा भिन्ना मन्त्रा अथर्वाणश्च मन्त्रा ब्रह्म। अथैषां मन्त्रविधानां ब्रह्मणां तात्पर्य्यं, यज्ञेषु विनियोगाः, यज्ञानां च सर्वेषामावृतः,—स्वातन्त्र्येण यत्रोपपद्यन्ते तद् ब्राह्मणम्।

ब्राह्मणभागे पर्वत्रयम्

तस्यैतस्य ब्राह्मणग्रन्थस्य त्रीणि पर्वाणि—विधिकाण्डम् आरण्यककाण्डम्

---

* अत्र पाठस्त्रुटितः।

उपनिषत्काण्डं चेति। यज्ञविधिः कर्मकाण्डम्। आरण्यकमुपासनाकाण्डम्। उपनिषज्ज्ञानकाण्डम्। एतावदेव वेदशास्त्रं ब्रह्म च ब्राह्मणं चेति ॥

इति वेदशास्त्रप्रकरणविभागः पूर्णः।

अथ वेदसंस्थाभेदाध्यायिनामौपाधिकसंज्ञाभेदाः

एकस्या एवैतस्या वेदविद्यायाः पञ्चसंस्था इष्यन्ते—मन्त्रविद्या १, अक्षरविद्या २, दृष्टिविद्या ३, यज्ञविद्या ४, सिद्धिविद्या ५ चेति। ऋग्यजुःसाम्नां वैज्ञानिकानां स्वरूपविज्ञानं मन्त्रविद्या। यथा खलु नारदः सनत्कुमारं प्राह—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं, पित्र्यं राशिं, दैवं निधिं, वाकोवाक्यमेकायनं, देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम्। एतद्भगवोऽध्येमि। सोऽहं मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्। तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि। तं मां भवान् शोकस्य पारं तारयतु इति। अपि च भगवानङ्गिराः शौनकायोवाच—द्वे विद्ये वेदितव्ये—परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वमिति। तदिदं पञ्चाक्षरविज्ञानमात्मविद्या। सत्रैव मन्त्रविद् ब्राह्मणो भवति॥ १॥ अथायमात्मज्ञः परविद्यो विद्वान् विप्रः॥ २॥ अथैतेषामप्रत्यक्षाणां निगूढधर्माणां योगजदृष्ट्या साक्षात्करणं दृष्टिविद्या। स एष साक्षात्कृतधर्मा द्रष्टा ऋषिरित्याख्यायते। तथा हि निरुक्ते यास्क आह—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। इति। ऋषिर्दर्शनादिति च॥ ३॥ अथार्षेयदृष्ट्या संपन्नोऽतीन्द्रियार्थविज्ञानवशात् तांस्तानप्रत्यक्षधर्मानुभूय यो यजते यज्ञविधानेन च स तत्तद्देवतागृहीतनामा देवो भवति सूर्यो वा इन्द्रो वा धर्मो वा वायुर्वा अथान्यो वा तस्य मानुषस्यापि सतो द्वितीय आत्मा दैवो भवतीति स देव इत्युच्यते। श्रूयते च—दैवो वा अस्य स आत्मा, मानुषोऽयम्। ७। [६।४।६] [७।३।१७] [६।३।२] अथ य एवं विद्वानेतैः सर्वैर्यज्ञैः सर्वानेव देवानात्मसात्कर्तुं प्रभवति स स ब्रह्मा—इत्याख्यायते॥ ५॥ तथा चैतद्वेदविद्याप्रभावेणैव ब्रह्मचारी क्रमेण पञ्चधा संज्ञां लभते—ब्राह्मणः, विप्रः, ऋषिः, देवः, ब्रह्मा चेति॥

इति वेदसंस्थाभेदाध्यायिनामौपाधिकसंज्ञाभेदाः।

वेदशाखाविभागः

अथ विज्ञानवेदस्य शास्त्रवेदस्य च समं शाखाविभागाः ११३१

तस्यैतस्य वेदस्यैकत्रिंशदधिकैकादशशतानि शाखा भवन्ति । ता यथा—

नवधा आथर्वणो वेदः सौम्ययाग्योः । एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् सोमसजुषोऽग्नेः ।
एकशतमध्वर्युशाखाः आग्नेययाग्योः । सहस्रवर्त्म सामवेदः आदित्यस्य—इति ॥

अधिदैवतं त्रयाणां तेषामग्नीनां द्वयोः सोमयोश्चैतावत्यः शाखा भवन्तीति कृत्वैव चैतन्निरूपणस्यैतस्य शास्त्रस्यैतावत्यः शाखा भवन्ति । निरूप्यभेदान्निरूपणभेदस्य साम्येनोपपन्नत्वात् । यत्तु गुरुशिष्याध्ययनपरम्परासम्प्रदायभेदाच्छाखाभेद इति केचित्पश्यन्ति तद् वेदशाखानभिज्ञानादज्ञानमूलकमित्युपेक्ष्यम् । सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत् । सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥ उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः । इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥ इत्यादि मन्त्रेषु प्रयुक्तस्य सहस्रशब्दस्य पदार्थस्वरूपनिरूपणे— किं तत् सहस्रमिति । इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयादिति श्रुतेः सहस्रप्रमितानां वेदसंज्ञकानां गवां लोकचतुष्टयव्याप्तानां तत्र तत्र लोके तथैव शाखाभेदेन व्यवस्थितत्वमस्तीति विज्ञेयम् । बहुविस्तृतोऽयमर्थो वेदसमीक्षायां विशदं व्याख्यातः किञ्चिदिहापि दिग्दर्शनमात्रेण लक्ष्यते ।

वैदिकशाखाविज्ञानसंक्षेपः

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ऋतं शून्यं, सत्यं पूर्णम् । शून्यस्थानमन्यत्, पूर्णस्थानमन्यत् । आप ऋतम् । अग्निः सत्यम् । आपः सत्यमग्निं गर्भमदधत । गर्भस्थाग्निवशादपां विकासोऽजायत । तत एता आपः षोढा समपद्यन्त विकासात् पूर्वां स्थितिरासामपां पूर्णावस्थारूपं शून्यम् । अथ विकासादद्भ्य एवैतानि जातानि पञ्चरूपाणि सत्यानि । तथा हि—चतुर्दिक्षु दश गभस्तयः प्रथमो विकासः । एकैकस्मिन् गभस्तौ पुनर्दश दश गभस्तयो द्वितीयविकासः । तच्छतम् । तत्राप्येकैकस्मिन् गभस्तौ पुनर्दश दश गभस्तयस्तृतीयो विकासः । तत्सहस्रम् । तथा च सहस्रांशुरयं ज्योतिर्मण्डलस्थो गोभिः कृतमूर्तिरेष सूर्य्यः प्रजापतिः ॥ शरीरस्थप्राणस्य यद्विधा प्रयोगस्त्वपः । "एतद्वै तप इत्याहुः—यत् स्वं ददाति" इति श्रुतेः ॥ एतस्माद्धि सूर्य्याद्